1

आमुख
(Introduction)

पिछले तीन दशकों में भारत में सामाजिक आंदोलनों पर अनेक अध्ययन हुए हैं, यद्यपि कई अन्य क्षेत्रों और आंदोलनों की घटनाओं की अपेक्षा इनकी संख्या बहुत कम है। अधिकांश अध्ययन अभी हाल के हैं जो 1960 के दशक के मध्य के बाद प्रकाशित हुए। अधिकांश अध्ययन इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों, राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं या पत्रकारों द्वारा किये गये हैं। सामान्यत: राजनीतिक वैज्ञानिकों द्वारा अभी कुछ वर्षों पूर्व तक इस विषय की उपेक्षा की गई है। इतिहासकारों ने एक लम्बी अवधि तक राजनीतिक इतिहास पर अपने आप को केन्द्रित रखा है जो मुख्यत: शासकों और श्रेष्ठिजनों तक सीमित था। ब्रिटिश इतिहासकारों, जिनके पदचिह्नों का भारतीय इतिहासकारों ने अनुसरण किया, चाहे वह ठीक या गलत था, ने अपने अध्ययनों में भारत की छायाई पृष्ठभूमि में इतिहास के रंगमंच पर ब्रिटिश लोगों के क्रियाकलापों को नायकों के रूप में प्रस्तुत किया (स्ट्रोक्स, 1959)। इस परिदृश्य में सामाजिक इतिहास की उत्पत्ति बहुत बाद में हुई और एक लम्बे समय तक इसका क्षेत्र, उन व्यक्तियों के इतिहास तक सीमित रहा जिनका राजनीति से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष से कोई सरोकार नहीं था। ये अध्ययन अधिकांशत: सरकार की नीतियों, शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, सामाजिक सुधार आंदोलनों, मध्यम वर्ग का विकास जैसे मुद्दों तक सीमित थे (भट्टाचार्य, 1982)। अभी हाल ही सामाजिक इतिहासकारों ने सामान्यत: सामाजिक आंदोलनों और विशेषत: कृषक आंदोलनों पर अत्यधिक प्रेरणास्पद अध्ययन किये हैं। समाजशास्त्र अपेक्षाकृत एक नया विषय है। यद्यपि, प्रथम पीढ़ी के लोगों ने परम्परा-आधुनिकता की वैचारिक संरचना (पैराडाइम) तक ही अपने आपको सीमित रखा है। अधिकांश समाजशास्त्रियों के अध्ययन नातेदारी, जाति और गांवों के अध्ययनों से संबंधित रहे हैं। सामाजिक आंदोलनों में उनकी रुचि मुख्यत: संस्कृतिकरण और सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों तक केन्द्रित रही जिसमें उन्होंने राजनीतिक आयामों को अपने विषय से परे जाकर तब तक उपेक्षा की जब तक सन् 1960 के दशक के अन्त में राजनीति के समाजशास्त्र का उदय नहीं हो गया। राजनीतिक विज्ञान अभी

भी पीछे चल रहा है। द *इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस* में आंदोलनों पर केवल दस लेख छपे हैं जिसमें से 370 लेख 1965 और 1978 के बीच के हैं। वर्ष 1857 और 1979 के बीच भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकार किये गये राजनीतिक विज्ञान के 906 शोध प्रबंधों में केवल 15 शोध प्रबंध ही आंदोलनों से संबंधित हैं।[1] वर्ष 1980 और 1990 तक भी इस स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इंडियन काउन्सल ऑफ सोशल साइन्स रिसर्च (आई.सी.एस.एस.आर., 1990) द्वारा प्रवर्तित राजनीतिक विज्ञान में हुए शोध की प्रथम प्रवृत्ति रिपोर्ट (1971) में इस विषय को ही साहित्य की समीक्षा हेतु सम्मिलित नहीं किया गया। सन् 1969 और 1994-95 के बीच की अवधि में आई.सी.एस.एस.आर. द्वारा इतिहास, राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र विषयों के अंतर्गत 672 शोध योजनाओं को प्रवर्तित किया गया, इसमें से केवल 17 योजनाएं (3 प्रतिशत से भी कम) सामाजिक आंदोलनों से संबंधित थीं (आई.सी.एस.एस.आर., 1990)।

सामान्य रूप में, सामाजिक आंदोलनों के बारे में कुछ न कहते हुए भी, यहां तक कि वे आंदोलन जिनका प्रत्यक्षत: राजनीतिक चरित्र रहा है जो स्पष्टत: सरकार के विरुद्ध किये गये हैं, उन्हें भी भारतीय राजनीतिक वैज्ञानिकों ने मोटे रूप में अपने शैक्षणिक विषय के क्षेत्र से परे रखा है। भारत में राजनीतिक विज्ञान मुख्यत: कार्यकारी, विधायी, दलों और चुनावों जैसी राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन तक सीमित रहा है। आम जनता की राजनीति उनकी आकांक्षाओं और मांगों, उनकी समस्याओं को मुखर करना तथा औपचारिक संस्थात्मक ढांचे से बाहर उनकी मांगों की कार्यप्रणाली की अधिकांशत: राजनीतिक विज्ञान के विद्वानों द्वारा उपेक्षा की गई है। तथापि, विकास संबंधी नीतियां और जनकल्याण संबंधी योजनाएं, उनका कार्यान्वयन, आदि भारतीय राजनीतिक विज्ञान के शिक्षण और शोध कार्यक्रम का हिस्सा हैं। किन्तु, इन नीतियों के निर्माण की प्रक्रियाओं की अपेक्षा उनका ध्यान मुख्यत: योजनाओं के उद्देश्यों और सरकर की भूमिका, और उनके मूल्यांकन पर अधिक केन्द्रित है। उदाहरणार्थ, भूमि संबंधी नीति को उससे संबंधित उन संघर्षों का बिना विश्लेषण किये पढ़ाया जाता है जिनके कारण राज्य और राजनीतिक दलों को इस नीति को अपनाने के लिये बाध्य होना पड़ा है। श्रीमती इन्दिरा गांधी की 'गरीबी हटाओ' की नीति का विश्लेषण 1960 के दशक के ग्रामीण और नगरीय गरीबों द्वारा किये गये ढेर सारे संघर्षों (आंदोलनों) के संदर्भ में नहीं किया जाता है। बहुधा यह भुला दिया जाता है कि आम जनता की राजनीति को बिना समझे राज्य को पूरी तरह से नहीं समझा जा सकता है। दलित वर्ग के दृष्टिकोणों, विश्वासों, आकांक्षाओं और विचारों का अध्ययन हमें अपनी संकल्पनाओं को परिभाषित और पुनर्परिभाषित करने और पाठ्य पुस्तक आधारित ज्ञान पर प्रश्न करने में हमारी मदद कर सकता है।

इस विधा को अपनाने का एक बड़ा कारण भारतीय राजनीति विज्ञान की विरासत है। यद्यपि इस विषय के औपचारिक स्वरूप की विरासत पश्चिमी रही है, तथापि राजनीति की अवधारणा जिस पर प्रमुख बुद्धिजनों द्वारा लिखा गया है, वह सभी स्थानों पर समान है, यह सांस्कृतिक सीमाओं को लांघती है। राजनीति को समझने, विश्लेषण करने और सैद्धान्तीकरण करने का बौद्धिक कार्य उतना ही पुराना है ज़ितना की सामूहिक जीवन के गठन की विधा है

जब विधि-विधान, नियम और अधिनियम, सत्ता का विभाजन, संसाधनों का वितरण तथा शासन करने हेतु औपचारिक संस्थाओं के अस्तित्व का विकास हुआ था। गीता और महाभारत राजनीति के शोध-प्रबंध हैं। इन ग्रंथों में शासकों और नागरिक गणों के कर्त्तव्यों और दायित्वों का विस्तृत विवेचन किया गया है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी राजनीतिक संहिता का एक प्रलेखित ग्रंथ है। सुकरात और प्लेटो की कृतियां बहुप्रसिद्ध हैं और इन्हें हमारे देश में राजनीतिक विज्ञान के विद्यार्थियों को व्यापक रूप से पढ़ाया जाता है। किन्तु, ये सभी ग्रंथ मुख्यत: शासकों की राजनीतिक और धार्मिक सत्ता तक सीमित हैं। राजनीति का इस प्रकार का अवधारणीकरण आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में एक शैक्षिक विषय के रूप में राजनीतिक विज्ञान के अध्यापन और शोध के विषय क्षेत्र के निर्माण में एक प्रमुख विमर्श के रूप में छाया हुआ है (शाह, 2001)।

इसके पूर्व, ब्रिटिश परम्परा के प्रभाव के फलस्वरूप भारत में राजनीति विज्ञान राजनीतिक दर्शनशास्त्र, औपचारिक सरकारी संस्थाओं और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन तक परिसीमित था। संस्थाओं के काम करने सहित आनुभविक अध्ययनों का उद्‌भव अभी हाल ही हुआ है, अर्थात् यह उद्‌भव 1950 के दशक के बाद में व्यवहारात्मक सम्प्रदाय, जिसका विकास अमेरिका में हुआ है, से प्रभावित रहा है। विज्ञानवादी आधारित विश्लेषण तथा क्यों के प्रश्न को विस्मृत कर दिया गया।

द्वितीय, राजनीति विज्ञानियों द्वारा अपनाई गई राजनीति की अवधारणा, जो अमेरिकी और ब्रिटिश परम्पराओं से प्रभावित रही है, काफी संकीर्ण है। यह अवधारणा एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था तक सीमित है जिसके प्रकार्य नियम बनाना, नियम लागू करना और न्याय करना मात्र है (अल्मोंड एवं कोलमेन, 1960)।

कई राजनीतिक वैज्ञानिकों के लिये, 'राजनीति' का अर्थ समाज में किसे, क्या, कब और कैसे मिलता है (लासवैल और कपालन, 1950)। दूसरों के लिये, राजनीति की परिभाषा, 'मूल्यों का आधिकारिक रूप में आबँटन' करना है। 'अधिकारिता' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए डेविड ईस्टन बताते हैं कि एक नीति तब स्पष्ट रूप में आधिकारिक होती है जब यह भावना उपस्थित होती है कि इस नीति का निश्चित तौर पर पालन किया जाना चाहिये या पालन किया जाना आवश्यक है ... कि नीतियां चाहे वे औपचारिक या प्रभावशाली हों, उन्हें बाध्यकारी स्वीकार किया जाता है (1953: 76)। अत: ये परिभाषाएं सरकार और राज्य के प्रकार्यों या शासक वर्ग अथवा अभिजनों की राजनीति तक राजनीति के अध्ययन को परिभाषित करती हैं। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि अमेरिका और ब्रिटेन के कुछ विश्वविद्यालयों में 'राजनीति' या 'राजनीति विज्ञान' के विभागों के स्थान पर 'सरकार' या 'सार्वजनिक कानून' और भारत में 'नागरिकशास्त्र और प्रशासन' या 'लोक प्रशासन' के विभाग हैं। ये परिभाषाएं राजनीति के अध्ययन को सरकार और राज्य के प्रकार्यों तक परिमित करती हैं।

तृतीय, यह धन्यवाद का विषय है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की उदारवादी विचारधारा और संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम के वर्चस्व के कारण सामाजिक विज्ञान साहित्य में संघर्ष और परिवर्तन की अपेक्षा संतुलन और सामंजस्य पर अधिक जोर दिया गया

राजनीति विज्ञान, यद्यपि मुख्यत: सत्ता और संघर्ष से संबंधित विषय है, फिर भी इसमें सामाजिक परिवर्तन हेतु समाजगत संघर्ष जैसे मुद्दों पर शोध नहीं हुआ है (सत्यमूर्ति, 1987)। राजनीति वैज्ञानिकों की मुख्यत: रुचि, जनता और शासकों के बीच के संघर्षों की अपेक्षा सत्ता अभिजनों के बीच होने वाले आंतरिक संघर्षों के अध्ययन में ही अधिक रही है। उनके अनुसार, समाजगत संघर्षों का समाधान सरकार और राजनीतिक संस्थाओं द्वारा किया जाना आवश्यक है। उनका चिन्ता का क्षेत्र तब शुरू हो जाता है जब संघर्ष सरकार के राजनीतिक घेरे में प्रवेश कर जाता है। उनकी दृष्टि में, संघर्ष के कारणों की अपेक्षा संघर्ष का समाधान अधिक महत्वपूर्ण है। अधिकांश राजनीतिक विज्ञानी अपनी विचारधारा की दृष्टि से उदारवादी हैं और भारत की स्वतंत्रता के लगभग दो दशकों तक उन्होंने भारत के संविधान को परमपावन माना है। उन्हें अभी तक विश्वास है कि विद्यमान राजनीतिक संस्थाएं सभी सामाजिक संघर्षों का समाधान कर सकती हैं (अय्यर, 1966)। इन संघर्षों के समाधान के अगणित संवैधानिक साधन हैं। व्यक्तियों को सीधी कार्यवाही करने की अपेक्षा विविध संवैधानिक विधियों की खोज करनी चाहिए। किसी 'खतरनाक स्थिति' में भी जिसमें संघर्ष की स्थिति का समाधान करने में संवैधानिक व्यवस्था असफल हो जाती है, उदारवादी राजनीतिक वैज्ञानिक सामाजिक विवेक के रास्ते को अपनाते हुए, सामाजिक संघर्षों के समाधान के लिये अधिक तर्क संगत और अधिक मानवीय तरीकों की खोज करने में विश्वास करते हैं (वही, 33)। उनका विश्वास है कि लोगों को आज्ञाकारिता की आदत विकसित करनी चाहिये और सत्ता का सम्मान करना चाहिये। प्रजातंत्र तब समाप्त हो जाता है जब सत्ता आम जनता के हाथ में चली जाती है। राजनीतिक वैज्ञानिक यह सलाह देते रहते हैं कि जनता पर अंकुश होना आवश्यक है (श्रीनिवासन, 1966)। यह सही है कि वे तब हतप्रभ हो जाते हैं जब वे यह देखते हैं कि समाज में फैले असंतोष के साथ तालमेल बिठाने में राजनीतिक संस्थाएं अधिकाधिक रूप में असफल हो जाती हैं। उदारवादी और रेडिकल दोनों प्रकार के राजनीतिक वैज्ञानिकों का एक छोटा सा भाग इस विषय की इस संकुचित परिभाषा को स्वीकार नहीं करता है। उन्होंने उदारवादी और मार्क्सवादी ढांचों के परे जाकर सामाजिक रूपान्तरण को अधिक अच्छे ढंग से समझने के लिये सामाजिक आंदोलनों के क्षेत्र की खोजबीन शुरू कर दी है।

यह पुस्तक भारत में सामाजिक आंदोलनों का कोई शोध अध्ययन और विश्लेषण नहीं है, अपितु यह इससे संबंधित साहित्य की समीक्षा मात्र है। अत: इस लेख (पुस्तक) के लिखने में सबसे कठिन पहेली जिसने मुझे बहुधा चकरा दिया, वह यह रही है कि किस अध्ययन को सम्मिलित किया जाये और किसे नहीं? 'सामाजिक आंदोलन' की कोई ऐसी एक निश्चित परिभाषा नहीं है जो सभी विषयों के विद्वानों को या किसी एक विषय के भी सभी विद्वानों को मान्य हो। 'प्रजातंत्र', 'जनता', 'लोकप्रिय', 'समानता' जैसे कई अनेक पदों (शब्दों) के साथ 'आंदोलन' पद (शब्द) का बहुधा विभिन्न सामाजिक आंदोलनकारियों, राजनीतिक नेताओं और विद्वानों, जिन्होंने 'आंदोलनों' पर लिखा है, विभिन्न रूप में प्रयोग किया है। कुछ विद्वानों ने 'आंदोलन' के पद का प्रयोग 'संगठन' या 'संघ' के पर्या-

अदल-बदल के रूप में किया है। कुछेक व्यक्ति इस पद का प्रयोग किसी ऐतिहासिक प्रवृत्ति या झुकाव के लिये करते हैं। राजनीतिक नेताओं और सामाजिक सुधारकों द्वारा अपने कार्यकलापों को 'आंदोलन' कहना, एक फैशन बन गया है, यद्यपि उनके कार्यकलाप एक दर्जन से भी कम लोगों को लेकर किसी संगठन के निर्माण तक सीमित होते हैं। कुछ व्यक्ति जन मुद्दों की प्रेस विज्ञप्तियां देकर आंदोलनों कि शुरुआत करने की बात करते हैं। टी.डी. वेल्डन के स्मरणीय वर्गीकरण का प्रयोग करते हुए 'आंदोलन' का पद कई अन्य शब्दों की भांति एक 'हुर्रा शब्द' बन गया है (वेल्डन, 1955)।

'सामाजिक आंदोलन' का पद यूरोपीय भाषाओं में उन्नीसवी शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में प्रचलन में आया। यह सामाजिक उथल-पुथल का समय था। राजनीतिक नेतागणों और लेखकों जिन्होंने इस पद का प्रयोग किया, वे शोषित वर्गों के उत्थान के प्रति चिन्तित थे और मूल्य व्यवस्था के साथ-साथ संस्थाओं और या सम्पत्ति संबंधों को बदलकर एक नये समाज की रचना करना चाहते थे। उनका वैचारिक दृष्टिकोण उनकी परिभाषा में झलकता है। तथापि, 1950 के प्रारंभ से विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक आंदोलनों की अवधारणा की सारगर्भित परिभाषाएं देने का प्रयास किया है। रुडाल्फ हेबरले (1951, 1968), नील स्मेल्सर (1963) और जॉन विल्सन (1973) की कृतियां इस संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं, यद्यपि इनमें से प्रत्येक की परिभाषा उलझी हुई है। पॉल विल्किनसन ने 'सामाजिक आंदोलन' की निम्नलिखित एक कार्यवाहक अवधारणा प्रस्तुत की है—

> एक सामाजिक आंदोलन किसी भी दिशा और साधन, यहां तक की हिंसात्मक असंवैधानिक साधन द्वारा, क्रांति या 'यूटोपियन' (आदर्श लोक) समुदाय स्थापित करने के रूप में, परिवर्तन लाने का एक संकल्पित सामूहिक प्रयास है। अत: सामाजिक आंदोलन स्पष्टत: ऐतिहासिक आंदोलनों, प्रवृत्तियों और झुकावों से भिन्न होते हैं। फिर भी, इस बात पर ध्यान दिया जाना महत्वपूर्ण है कि इस प्रकार की प्रवृत्तियां और झुकाव तथा मानवीय व्यवहार के अचेतन या अतार्किक कारकों का प्रभाव सामाजिक आंदोलन का विश्लेषण और स्पष्ट करने में काफी महत्वपूर्ण हो सकते हैं।
>
> एक सामाजिक आंदोलन में न्यूनतम मात्रा में संगठन होना आवश्यक है। यह संगठन एक ढीले-ढाले, अनौपचारिक या आंशिक मात्रा से लेकर अत्यधिक संस्थानीकृत और नौकरशाहीकृत आंदोलन या कॉर्पोरेट समूह के रूप में हो सकता है। वास्तव में, यह बताया गया है कि सामाजिक आंदोलन संबंधी अधिकांश साहित्य प्राकृतिक इतिहास, आंदोलन विकास के प्रतिरूपों (मॉडल्स) या सिद्धांतों से संबंधित हैं। ऐसे मॉडल्स आंदोलन की संरचना और संगठन में होने वाले परिवर्तनों का आभास देने का प्रयास करते हैं। ये परिवर्तन प्रारंभिक सामाजिक असंतोष और उत्तेजना की स्थिति तथा करिश्माई नेतृत्व के उभार से लेकर सत्ता को हथियाने के क्रांतिकारी आंदोलन का रूप ले सकते हैं।
>
> एक सामाजिक आंदोलन की परिवर्तन और इसके संगठन के उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्धता चेतन संकल्प शक्ति, आंदोलन के उद्देश्यों और विश्वासों के प्रति आदर्शात्मक प्रतिबद्धता और [illegible] तथा अनुसरणकर्त्ताओं की सक्रिय सहभागिता पर आधारित होती है। संकल्पशी[illegible] आदर्शात्मक प्रतिबद्धता के रूप में सामाजिक आंदोलन का इस प्रकार का [illegible]

> के अग्रणी विद्वानों द्वारा लगभग सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ, हेबरले ने इन विश्वास व्यवस्थाओं को ऐसे लोगों की सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति माना है जो इन्हें स्वीकार करते हैं। वे इस बात पर जोर देते हैं कि यह संकल्पशीलता का तत्व ही है जो विश्वासों को सामाजिक रूप में प्रभावक बनाता है। सामूहिक रूप से काम करने वाली चेतना संकल्पशीलता सामाजिक आंदोलनों में विचारधाराओं के मूर्तरूप को प्रस्तुत करती हैं। (1971: 27)

उपरोक्त कार्यवाहक अवधारणा कोई संक्षिप्त परिभाषा प्रस्तुत करने का दावा नहीं करती। यह अत्यंत विस्तृत है जिसमें संस्थाओं की सीमाओं के अन्तर्गत (जैसे चुनावों में मत देना या स्मरण पत्र देना) संवैधानिक साधनों के द्वारा सामूहिक कार्यकलापों के साथ-साथ हिंसात्मक अतिरिक्त संस्थात्मक सामूहिक कार्यकलापों द्वारा किसी भी दिशा में परिवर्तन लाने को सम्मिलित किया जाता है। 'न्यूनतम मात्रा में संगठन' का होना एक समस्या है। निश्चित तौर पर यह कहना बड़ा कठिन है कि यह 'न्यूनतम मात्रा' कितनी हो। एक व्यक्ति को इस विषय पर भी आश्चर्य हो सकता है कि सामाजिक आंदोलन की शुरुआत क्या प्रतिबद्ध सदस्यों के द्वारा किसी संगठन की स्थापना के साथ होती है या जैसे-जैसे आंदोलन आगे बढ़ता है संगठन समय के साथ धीरे-धीरे विकसित होता जाता है। इस प्रकार की परिभाषा में उपद्रव और विरोध को सम्मिलित नहीं किया जा सकता जिनमें शुरुआत में कोई संगठन नहीं होता है। विल्किनसन की कार्यवाहक अवधारणा की ये कठिनाइयां होते हुए भी इसका स्वत: शोध का अपना मूल्य है। यहां यह कहना उचित होगा कि भारत में सामाजिक आंदोलनों के अध्ययनों में भारतीय संदर्भ में अवधारणा को परिभाषित करने के अभी कोई व्यवस्थित प्रयास नहीं हुए हैं (चन्द्रा, 1977)। यह कहने की जरूरत नहीं है कि कई अन्य अवधारणाओं की भांति, 'सामाजिक आंदोलन' के पद (टर्म) का जो अर्थ सहभागियों द्वारा लगाया गया है, वह सामयिक और सांस्कृतिक संदर्भों से आलोड़ित है।

उद्देश्य, विचारधारा, कार्यक्रम, नेतृत्व और संगठन सामाजिक आंदोलनों के महत्वपूर्ण निर्मायक घटक हैं।[2] ये अन्तर्निभर हैं जो एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। फिर भी रणजीत गुहा की चेतावनी पर ध्यान दिया जाना जरूरी है। उन्होंने कहा है कि यद्यपि ये निर्मायक तत्व तथाकथित स्वत: स्फूर्त विद्रोह सहित, सभी प्रकार के आंदोलनों या बगावतों में मिलते हैं, तथापि असंरचित से लेकर पूर्णत: संगठित आंदोलनों में इनके रूप भिन्न होते हैं। उन्होंने कुछ इतिहासकारों के इस विचार को चुनौती दी है, जिन्होंने यह मत व्यक्त किया है कि कृषक विद्रोह स्वत: स्फूर्त होते हैं और इनमें राजनीतिक चेतना और संगठन का अभाव होता है। इस प्रकार के विद्रोहों में न तो नेतृत्व का और न ही उद्देश्य का, न ही एक कार्यक्रम के कुछ रूढ़तत्वों का अभाव होता है, फिर भी ये सभी विशेषताएं बीसवीं शताब्दी के ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक उन्नत आंदोलनों की परिपक्वता और परिष्कृत रूप की तुलना में उनके समकक्ष कहीं नहीं ठहर पाती हैं (1983a: 10)।

मैं भली-भांति यह जानता हूं कि यदि मैं इस लेख में एक सुनिश्चित परिभाषा का प्रयोग करता हूं, तो मैं अपने आपको कई कठिनाइयों में उलझा देता हूं। यह परिभाषा मैंने 1920 के दशक में हुए विशिष्ट सामूहिक क्रिया के विश्लेषण करने हेतु निर्मित की थी. जिसमें [illegible]

अध्ययनों को सम्मिलित और कुछेक को इस परिभाषा से बाहर रखा है। मेरा यह प्रयास मुझे बहुत दिलचस्प, भली-भांति प्रलेखित और विश्लेषणात्मक अध्ययनों को त्याग करने के लिये मजबूर कर सकता है। यह प्रयास न केवल भारत के सामाजिक आंदोलनों को, अपितु विभिन्न सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्यों के साथ-साथ एक समयावधि में हुए परिवर्तनों को समझने के लिये हानिकर होगा। चूंकि इस लेख का उद्देश्य न तो मेरे द्वारा संकलित आनुभविक तथ्यों को विश्लेषित करने का है और न ही इसका लक्ष्य सामाजिक आंदोलनों पर कोई सैद्धांतिक लेख लिखने का है। यह लेख व्यावहारिक होना चाहिए और इसमें एक विस्तृत अवधारणा के प्रयोग किये जाने की जरूरत है जिसमें सामाजिक आंदोलनों संबंधी विभिन्न प्रकार के अध्ययनों को सम्मिलित किया गया है। फिर भी, हमारे सैद्धांतिक उपकरण और समय-सीमा की अड़चनें इस बात के लिये बाध्य करती हैं कि हम अपने क्षेत्र का सीमांकन करें और उसमें कुछ प्रकार की सामूहिक क्रिया को सम्मिलित करें और कुछ को इस लेख के दायरे से बाहर रखें।

इस लेख में उन अध्ययनों पर ध्यान दिया गया है जिनमें असंस्थागत संवैधानिक या संविधानेत्तर सामूहिक राजनीतिक क्रियाओं का विश्लेषण किया गया है जो सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन हेतु नागरिक और राजनीतिक समाज को प्रभावित करती हैं। सामूहिक क्रियाएं, जो प्रस्थिति में परिवर्तन और सामाजिक गतिशीलता को प्राप्त करने हेतु की गई हैं, उन्हें इनसे अलग रखा गया है। वे क्रियाएं जो कानून रूप में स्वीकृत हैं और जिन्हें सम्पूर्ण समाज को या समाज के किसी हिस्से को किसी समय विशेष पर बांधने वाली क्रियाओं के रूप में व्यापक रूप में स्वीकार किया गया है (जॉनसन, 1966: 21) संस्थागत क्रियाएं होती हैं। ऐसी क्रियाओं में विभाजन, समर्थन, चुनाव में मत देना, प्रचार करना तथा न्यायालयों में कानूनी लड़ाइयां लड़ने को सम्मिलित किया जाता है। फिर भी, कभी-कभी इन विधियों के साथ अन्य सामूहिक क्रियाओं को भी सम्मिलित कर उन्हें दांवपेच के रूप में प्रयोग किया जाता है। ऐसे मामलों में, ऐसी क्रियाओं को हम सामाजिक आंदोलन का हिस्सा मानते हुए उन्हें इस लेख के क्षेत्र में सम्मिलित करेंगे। कभी-कभी, प्रभु समूहों और राज्य की प्रभुसत्ता, निर्देशों और आदेशों के पालन में बाधा डालने की क्रियाओं को सामाजिक आंदोलन मान लिया जाता है। बाधा डालना निश्चित तौर पर विरोध की ही एक अभिव्यक्ति है। किन्तु जब तक ऐसी क्रियाएं व्यक्तिगत स्तर पर होती हैं और सामूहिक क्रिया का रूप धारण नहीं करतीं, यह आंदोलन नहीं है (स्कॉट, 1985; गुहा, 1998)। प्रस्तुत अध्ययन व्यक्तियों के किसी समूह द्वारा सत्ता के विरुद्ध की गई प्रत्यक्ष कार्यवाही तक सीमित है। डेविड बायले के शब्दों में, यह 'गैर-कानूनी जन विरोध है' (1962)। 'गैर-कानूनी' शब्द कई प्रश्नों को जन्म देता है। यह कानून और संविधान की व्याख्या का विषय है। एक विशिष्ट क्रिया (कार्यवाही) को उन व्यक्तियों द्वारा गैर-कानूनी ठहराया जा सकता है जो सत्ता में है और जो यथास्थिति का समर्थन करते हैं किन्तु उसी क्रिया (कार्यवाही) को उन व्यक्तियों द्वारा कानून सम्मत बताया जा सकता है जो सामाजिक परिवर्तन लाना चाहते हैं। रजनी कोठारी ने 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' को इस प्रकार परिभाषित किया है, "यह संविधानेत्तर राजनीतिक विधि है जो समूह क्रिया का रूप ले लेती है

(और) यह सत्तासीन सरकार के विरुद्ध किसी राजनीतिक परिवर्तन लाने के उद्देश्य से की गई होती है" (1960: 27)। 'संविधानेत्तर' शब्द परिप्रेक्ष्य का विषय है। कोठारी की 'राजनीतिक परिवर्तन' की 1960 की अवधारणा संकीर्ण है जो सरकार के परिवर्तन तक सीमित है। (उसके बाद से उन्होंने इस अवधारणा में परिवर्तन कर दिया है।) हमारा विश्वास है कि राजनीतिक शक्ति केवल सरकार तक सीमित नहीं होती; यह समाज के कई स्तरों में बंटी होती है। वे सभी व्यक्ति जो 'राजनीतिक परिवर्तन' के लिये प्रयास करते हैं, वे केवल सरकार के विरुद्ध ही संघर्ष नहीं करते हैं। व्यक्तियों की सामाजिक कार्यवाही (क्रिया) कई स्तरों—प्रबल संस्कृति, जाति, वर्ग और विचारधारा के विरुद्ध होती है।

अ-संस्थानीकृत सामूहिक क्रिया के कई रूप हो सकते हैं, जैसे विरोध, उपद्रव, हड़ताल, सत्याग्रह, घेराव, दंगे आदि। यदि हम पूर्वोक्त उल्लिखित परिभाषा का अनुसरण करें, तब विरोधों और उपद्रवों को सही रूप में सामाजिक आंदोलन नहीं कहा जा सकता। किन्तु बहुधा, एक सामाजिक आंदोलन एक समयावधि में विकसित होता है और इसकी शुरुआत किसी विशिष्ट मामले को लेकर विरोध प्रदर्शन या उपद्रव से होती है। शुरुआत में ऐसे प्रदर्शनों का कोई 'संगठन' और परिवर्तन संबंधी कोई 'विचारधारा' नहीं होती। उदाहरणार्थ, जब गुजरात में एक इंजीनियरिंग कॉलेज के विद्यार्थियों ने भोजनशाला के बिल के प्रति विरोध प्रदर्शित किया, तब यह उनकी एक अपेक्षाकृत स्वत: स्फूर्त क्रिया थी। किन्तु, इसी विरोध प्रदर्शन ने बाद में गुजरात में सन् 1974 में 'नव निर्माण आंदोलन' का रूप ग्रहण कर लिया (शाह, 1977)। यही नहीं, एक विशिष्ट सामूहिक क्रिया कुछ विद्वानों के लिये मात्र एक विरोध प्रदर्शन हो सकता है, जबकि दूसरों के लिये यह एक आंदोलन होता है। यह विश्लेषण और परिप्रेक्ष्य के स्तर पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, 1950 के दशक में भाषाई प्रान्तों के निर्माण की मांग को लेकर समाज के एक वर्ग द्वारा की गई सामूहिक क्रिया को कुछ लोगों द्वारा एक 'विरोध प्रदर्शन' माना गया और कुछ के द्वारा यह एक 'आंदोलन' मात्र था। इन्हीं विद्वानों ने बाद में 'विरोध प्रदर्शन' को 'आंदोलन' माना। इस लेख में, हम विरोध प्रदर्शन, उपद्रव हड़ताल आदि को एक 'आंदोलन' या अधिक सुस्पष्ट रूप में, समाज के किसी विशिष्ट वर्ग या संस्तर (Strata) द्वारा किए गए सामाजिक आंदोलन का एक अंग मान कर चलते हैं। दंगों के अध्ययनों को हम इस अध्ययन से पूरी तौर पर बाहर नहीं रखते हैं। कुछ विद्वानों द्वारा कुछ सामाजिक कार्यवाहियों को 'दंगों' का नाम दिया गया है, किन्तु बहुधा वे चल रहे आंदोलनों का हिस्सा नहीं होते। इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण सरकार की भू-नीति के विरोध में उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में किये गये तथाकथित 'दक्षिणी दंगों' का है। इस लेख में ऐसे आंदोलनों के अध्ययनों को सम्मिलित किया गया है, क्योंकि वे महाराष्ट्र के वृहद् कृषक आंदोलनों का हिस्सा रहे हैं।

बहुधा, राजनीतिक वैज्ञानिक और समाजशास्त्री 'सामाजिक' और 'राजनीतिक' आंदोलनों के बीच अन्तर नहीं करते हैं। समाजशास्त्री मानते हैं कि सामाजिक आंदोलनों में उन आंदोलनों को भी सम्मिलित किया जाता है जिनका स्पष्ट उद्देश्य राजनीतिक परिवर्तन

होता है और यह सही भी है। सामाजिक आंदोलन संबंधी दो ग्रन्थ (1978), जिनका सम्पादन एम.एस.ए. राव ने किया है, उनमें ऐसे दो अध्ययनों को सम्मिलित किया गया है—(1) नक्सलवादी आंदोलन जिसका उद्देश्य राज्य सत्ता को हथियाना है और (2) उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने हेतु पिछड़ी जाति का आंदोलन। रोड़ल्फ हेबरले (1951) कहते हैं कि सभी आंदोलनों के राजनीतिक निहितार्थ होते हैं, चाहे उनके सदस्य राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने की कोशिश नहीं करते हैं। राजनीतिक वैज्ञानिक भी 'सामाजिक आंदोलन' शब्द का प्रयोग करने से परहेज नहीं करते हैं। विल्किनसन की सामाजिक आंदोलन संबंधी पुस्तक, जो 'राजनीतिक विज्ञान की अवधारणा' की शृंखला के तहत प्रकाशित हुई है, इस दृष्टिकोण का एक उदाहरण है। यहां यह लिखा जा सकता है कि प्रवृत्ति प्रतिवेदन संबंधी राजनीति विज्ञान की समिति (आई.सी.एस.एस.आर. द्वारा निर्मित) ने इस अध्ययन को 'सामाजिक आंदोलन' के तहत करवाया है। यह राजनीति विज्ञान के अपने विषय के प्रति दृष्टिकोण का संकेत देती है।

आजकल सामाजिक वैज्ञानिकों और आंदोलनकर्त्ताओं के बीच वर्तमान विचार-विमर्श में 'नव सामाजिक आंदोलन' का मुहावरा प्रचलित हो गया है। कुछ लोग इस पद (टर्म) का प्रयोग ऐसे आंदोलनों के लिये करते हैं जो उनकी दृष्टि में नये हैं, जैसे नारी (महिला) आंदोलन, पर्यावरण आंदोलन, पहचान आंदोलन और शांति आंदोलन आदि। कुछ लोगों का कहना है कि नये आंदोलन 'उत्तर-आधुनिक' समाज के मुद्दों के परिणाम हैं (सिंह, 2001)। ये आंदोलन वर्ग आधारित नहीं है, ये आर्थिक मुद्दों को भी नहीं उठाते हैं और न ही ये राज्य की सत्ता से संबंधित हैं। ये ऐसे मानवीय मुद्दों को उठाते हैं जो सभी वर्गों से संबंधित हैं। इस अर्थ में, 'नव सामाजिक आंदोलन' सामाजिक हैं, न कि राजनीतिक। अत: ये जटिल एवं समस्यात्मक हैं। एक व्यक्ति ये प्रश्न पूछ सकता है—पश्चिम की भांति भारतीय समाज किस सीमा तक उत्तर-आधुनिक है? क्या पूर्व-आधुनिक समाज में पहचान के लिये कोई संघर्ष नहीं था? क्या पर्यावरण आंदोलनों, नारी आंदोलनों, दलित आंदोलनों में आर्थिक तत्व निहित नहीं होता? क्या वे राज्य के साथ मुठभेड़ नहीं करते? यह मानते हुए कि वैश्विक पूंजीवाद में वर्गों की प्रकृति और वर्ग संबंधों में बदलाव आ गया है, क्या प्रबल विचारधारा और शक्ति के प्रति लोगों के बोध में वर्गों (या आर्थिक संस्तर) की सार्थकता नहीं रह गई है?

नव सामाजिक आंदोलनों की वैचारिक संरचना (पैराडाइम) के तहत आंद्रे गुण्डर फ्रैंक और मार्ता फून्टस (1987) ने सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों में अन्तर प्रदर्शित किया है। इनके अनुसार, सामाजिक आंदोलन राज्य सत्ता के लिये प्रयास नहीं करते हैं। सामाजिक आंदोलन 'राज्य सत्ता की अपेक्षा स्वायत्तता की अधिक मांग' करते हैं। सामाजिक और राजनीतिक सत्ता में अन्तर होता है। राजनीतिक सत्ता केवल राज्य में निहित होती है। इन लेखकों के अनुसार, सामाजिक आंदोलनों का उद्देश्य सामाजिक रूपान्तरण होता है। इन आंदोलनों के सहभागी लोग सामाजिक न्याय प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होते हैं। यह विचार जटिल है। यह सही है कि समाज और राज्य और इसलिये सामाजिक और राजनीतिक सत्ता, दोनों एक ही और समान नहीं है। किन्तु, वर्तमान विश्व में सामाजिक सत्ता और राजनीतिक सत्ता में भेद करने का तात्पर्य वास्तविकता के महत्व को कम आंकना और

राजनीतिक प्रकियाओं की जटिलताओं की अवहेलना करना है। राजनीति केवल राजनीतिक दलों में निहित नहीं होती। लेखकों ने ऐसे आंदोलनों के राजनीतिक निहितार्थों की अवहेलना की है जो न्याय और अन्याय की भावना से जुड़े मुद्दों से संबंधित हैं। धनागरे और जॉन (1988) ने ठीक ही कहा है कि फ्रैंक और फून्ट्स 'सामाजिक क्षेत्र के वि-राजनीतिकरण' की प्रक्रिया के प्रति प्रतिबद्ध हैं। हम मानते हैं कि सामाजिक रूपान्तरण (श्रम और सम्पत्ति संबंधों में बदलाव) और न्याय तथा अधिकारों के लिये राजनीतिक सत्ता को हथियाने या प्रभावित करने की जरूरत पड़ती, यद्यपि यह इसका तत्काल कार्यक्रम नहीं होता है। अत: वर्तमान संदर्भ में, 'सामाजिक' और 'राजनीतिक' आंदोलनों में फर्क केवल अर्थगत है।

सामान्यत:, सामाजिक आंदोलनों संबंधी अध्ययनों में मोटे रूप में विश्लेषण के लिये या तो मार्क्सवाद या मार्क्सवादी उपागम का प्रयोग किया गया है। फिर भी, सभी अध्ययनों को तीन कारणों से किसी एक उपागम में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है। प्रथम, कई विद्वान किसी विशिष्ट आंदोलन का किसी पूर्वविचारित सैद्धान्तिक उपागम के लिहाज से अध्ययन नहीं करते हैं। उनके पास सिद्धान्तों की कमी होती है। द्वितीय, जब वे अनुभवजन्य स्थितियों का अध्ययन करते हैं, तब बहुधा वे दो उपागमों के बीच अदला-बदली करते देखे गये हैं। तृतीय, प्रत्येक सैद्धान्तिक उपागम में भिन्नताएं होती हैं। ऐसे विद्वान जो मार्क्सवादी उपागम का अनुसरण करते हैं, उनकी रुचि मुख्यत: समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में होती है, वे समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं। इन विद्वानों के अनुसार, सामाजिक आंदोलन समाज की अर्थव्यवस्था में निहित होते हैं और श्रमिक वर्गों के बीच विरोध हित वर्ग-आधारित समाज में निहित होते हैं जो विरोधाभासों को जन्म देते हैं।

धनी लोग अपने वर्चस्व को बनाये रखने हेतु शोषित वर्गों को नियंत्रित करने के लिये राज्य के साथ-साथ अन्य संस्थाओं, जैसे धर्म, शिक्षा, जन संचार की अवपीड़नकारी शक्ति का प्रयोग करते हैं। शोषित वर्ग प्रतिरोध, विरोध प्रदर्शन और कभी-कभी विद्रोह कर बैठता है और धनी वर्गों के वर्चस्व के विरोध में संगठित और सामूहिक कार्यवाही के लिये बाध्य हो जाता है। उनके ये प्रयास सत्तासीन प्रभु वर्गों को उखाड़कर क्रांतिकारी राजनीतिक परिवर्तन लाने के लिये होते हैं। यद्यपि, मार्क्सवादियों की दृष्टि में, उनके अध्ययनों के लिये विरोधी आर्थिक हितों के ढांचागत कारण मुख्य होते हैं, तथापि अनेक मार्क्सवादी विद्वानों ने आजकल नृजातिक, धार्मिक तथा अन्य सांस्कृतिक कारकों पर भी ध्यान देना शुरू कर दिया है। इनमें से कुछेक ने शोषित वर्गों की चेतना की प्रकृति को विश्लेषण करना शुरू कर दिया है। अनेक 'रूढ़िवादी' मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार, समान वर्ग के सदस्यों के न केवल साझा हित (अन्य वर्गों से भिन्न) होते हैं, अपितु समाज में उनकी स्थिति के संबंध में उनकी समान चेतना और समान हित भी होते हैं। इसी के कारण, ये लोग शासक वर्गों और राज्य के प्रति सामूहिक कार्यवाही कर पाते हैं। किन्तु इनमें से कुछ विद्वानों ने आजकल उत्पादन के साधनों के स्वामित्व पर आधारित 'वर्ग' और 'वर्ग संबंध' की धारणा पर पुनर्विचार करना शुरू कर दिया है। समुदाय की भांति, वर्ग एक जटिल घटना है। यह सहभागियों की अपनी पहचान की धारणा

हितों के बोध और एक विशिष्ट ऐतिहासिक संयोग के अन्तर्गत प्रभु समूहों के साथ घुली-मिली होती है (चन्दावकर, 1998)।

सैद्धान्तिक और पद्धतिशास्त्रीय मसलों पर मार्क्सवादी विद्वानों में बहस हो रही है। अभी हाल ही इतिहासकारों का एक समूह, जो अ-मार्क्सवादी नहीं है और जो 'पददलित (दलित) अध्ययन' समूह के नाम से जाना जाता है, ने 'इतिहास को नीचे से' अध्ययन करना शुरू किया है। ये लोग आम जनता के इतिहास की अवहेलना करने के लिये 'पारम्परिक' मार्क्सवादी इतिहासकारों की इस आधार पर आलोचना करते हैं कि जैसे दलित वर्गों (सबआल्टर्न क्लास) का अपना कोई इतिहास नहीं है और वे पूर्णत: उन्नत वर्गों या अभिजनों पर अपने संगठन और मार्गदर्शन के लिये निर्भर रहते हैं। यह कहा गया है कि पारम्परिक मार्क्सवादी विद्वानों ने सांस्कृतिक कारकों को कोई महत्व नहीं दिया है और उन्होंने वर्ग चेतना को रैखिक विकास के रूप में देखा [गुहा, 1983 (a), 1983 (b); चटर्जी, 1983, 1985; हार्डिमैन, 1987]। इसके विपरीत, दलित अध्ययन इतिहासकारों की अन्य मार्क्सवादी विद्वानों द्वारा कटु आलोचना इस बिना पर की गई है कि उन्होंने संरचनात्मक कारकों की अवहेलना की है और 'चेतना' को संरचनात्मक विरोधाभासों से स्वतंत्र माना है। उन्हें हीगलवादी 'आदर्शवादी' होने के लिये दोषी माना है (चोपड़ा, 1982; अलम, 1983; सिंह, एवं अन्य 1984; गुप्ता, 1985)। बहस के अन्य मुद्दे ये हैं—क्या दल और श्रमिक संगठन क्रांतिकारी आंदोलन शुरू करने के लिये सक्षम हैं? क्या कृषकों को वर्गों में विभाजित किया जा सकता है? कृषकों के कौन से वर्ग में क्रांतिकारी आंदोलन करने की अधिक संभावना है? क्या 'हरावल (अग्रणी वर्ग)' सैद्धान्तिक और आनुभविक रूप में एक सार्थक श्रेणी है? अ-मार्क्सवादी विद्वान मार्क्सवादी अध्ययनों पर 'लघुकरण', 'यांत्रिक' और आर्थिक कारकों के 'अति-निर्णायक' होने का दोषारोपण करते हैं।

सामाजिक आंदोलनों के विश्लेषण करने के अपने उपागमों में अ-मार्क्सवादी विद्वानों में भी भारी अन्तर पाया जाता है। सामाजिक या राजनीतिक परिवर्तन की आवश्यकता संबंधी वैचारिक स्थितियों और आंदोलनों में उनकी भूमिका में अन्तर होता है। विलियम कोर्नहाउज़र (1959, 1968), रॉबर्ट निस्बेट (1953), एडवर्ड शील्स (1982) तथा अन्य व्यक्तियों ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि जन आंदोलन जन समाजों की उपज होते हैं जो अद्वितवादी और प्रजातंत्र विरोधी होते हैं। ये विचारक राजनीति में आम जनता को रोजमर्रा में भाग लेने से बाहर करने के पक्षधर हैं जो सरकार के कुशल संचालन में बाधा उत्पन्न करती हैं। ऐसे भारतीय विद्वान जिन्होंने विदेशी शासन से स्वतंत्र होने के लिये आंदोलनों को ठीक माना है, वे ही उत्तर-स्वतंत्रता काल के आंदोलनों को ठीक नहीं मानते हैं। ये विद्वान इन आंदोलनों को 'सभ्य समाज' के लिये 'खतरनाक' और 'दुष्प्रकार्यात्मक' बताकर इनकी पूर्णत: भर्त्सना करते हैं। यद्यपि कुछ अन्य विद्वान राजनीतिक और आर्थिक संरचना में क्रांतिकारी परिवर्तन के पक्षधर नहीं हैं। ये लोग ऐसा राजनीतिक परिवर्तन चाहते हैं जो केवल सरकार और राजनीतिक संस्थाओं में परिवर्तन तक सीमित हो। कुछेक 'क्रांतिकारी' परिवर्तन की भी बात करते हैं किन्तु वे मार्क्सवादी विद्वानों से वर्ग विश्लेषण के मामले में भिन्नता रखते हैं। ये लोग [illegible]

व्यवस्थाओं, राजनीतिक संस्थाओं और संस्कृति पर जोर देते हैं। आंदोलनों के अपने विश्लेषण में, कुछ लोग कारणों के जानने में रुचि नहीं रखते। कुछ अन्य लोग आंदोलनों के लिये उत्तरदायी कारणों पर जोर देने में भिन्नता रखते हैं। कुछ लोग व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक विशेषताओं पर जोर देते हैं, कुछ अभिजन शक्ति संघर्ष और उनके जोड़-तोड़ को महत्व देते हैं और कुछ अन्य लोग आर्थिक कारकों की अपेक्षा सांस्कृतिक कारकों की महत्ता पर जोर देते हैं। सन 1960 के दशक के मध्य में, राजनीतिक वैज्ञानिकों के एक समूह ने अपने आपको इस प्रश्न में उलझाये रखा कि भारत में इतने अप्रत्याशित स्तर पर हिंसा के विस्फोट के क्या कारण है? (अय्यर, 1966)। इन लोगों ने आंदोलनों को अस्वीकार किया है। इनमें से एक ने यह तर्क दिया कि एक व्यक्ति यह समझ सकता है, चाहे वह उनके कारकों को न्यायोचित न माने जिसके कारण एक पराधीन देश के लोग उन सभी वस्तुओं पर हमला करते हैं और उन्हें नष्ट करने का प्रयास करते हैं जो विदेशी शासन की एक प्रतीक या एक अभिव्यक्ति हैं। किन्तु यह बड़ा आश्चर्य है कि लोग अभी तक उसी रूप में व्यवहार कर रहे हैं जैसे वे अभी भी पराधीन देश, जो विदेशियों द्वारा शासित है, में रह रहे हैं (फड़के, 1966: 52)। ये लोग विरोधी दलों, नेताओं और श्रमिक संगठनों को इसके लिये दोषी मानते हैं कि ये जनता को प्रत्यक्ष कार्यवाही के लिये भड़काते हैं (अय्यर, 1966; श्रीनिवासन, 1966)।

मार्क्सवादियों सहित कुछ विद्वान, यह दावा करते हैं कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता में इसके 'बहुरैखिक चरित्र' और 'बहु-व्यापक संस्तरण' के कारण, जन आंदोलन या प्रदर्शन व्यर्थ हैं। ब्राह्मणवादी विचारधारा तथा संस्तरणात्मक सामाजिक व्यवस्था के कारण शोषित वर्गों के लोग आज्ञापरायण, विनम्र और भाग्यवादी बन गये हैं (मूर, 1967; चन्द्रा, 1977; बद्रीनाथ, 1977)।[3] इस प्रकार के दावों का दूसरे विद्वानों ने खण्डन किया है जो शोषित वर्गों द्वारा पूर्व और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में किये गये अनेक आंदोलनों का उदाहरण देते हैं (गफ़, 1974; थापर, 1977; दामले, 1977; धनागरे, 1983)। कुछेक ने स्वतन्त्रता के बाद के आंदोलनों और उपद्रवों की व्याख्या करते हुए कहा है कि ये 'परम्परा' और 'आधुनिकता' के बीच द्वन्द्व का परिणाम हैं। इन लोगों के अनुसार, भारत में संसदीय प्रजातंत्र का प्रत्यारोपण किया गया है जहां स्वैच्छिक प्रयासों की कोई परम्परा नहीं रही है। लोगों में सत्ता के प्रति उभयभावी दृष्टिकोण उत्पन्न हो गया है। ये लोग राजनीतिक सत्ता द्वारा प्रदान की गई सुविधाओं का फायदा तो उठाते हैं किन्तु साथ ही इसे वैधता प्रदान नहीं करते। मौरिस-जोन्स ने कहा है कि, 'स्वतंत्रता के बाद भी सरकार में तो विश्वास प्रकट किया गया, किन्तु साथ ही इसमें मीनमेख निकाले गए और इसका दुरुपयोग किया गया। एक व्यक्ति जो एक ओर सरकार के कामकाज को देख रहा है, दूसरी ओर दूसरे ही क्षण, वही व्यक्ति प्रदर्शन में भाग लेता हुआ इस सीमा तक हिंसा में सहभागिक बन जाता है जो किसी भी सरकार को चलाने को असंभव बना देती हैं' (1964)। यह एक ओर पारम्परिक मूल्यों और दृष्टिकोणों तथा दूसरी ओर आधुनिक संस्थाओं के बीच संघर्ष का परिणाम होती है।

वे विद्वान जो राजनीतिक विकास के सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं, मानते हैं कि वर्तमान राजनीतिक संस्थाएं बढ़ती हुई आकांक्षाओं की पर्याप्त मात्रा में पूर्ति नहीं कर पाती हैं

क्योंकि ये अनन्य और अक्षम हैं। जैसे-जैसे राजनीतिक अस्थिरता और अव्यवस्था दोनों के बीच फासला बढ़ता जाता है, यह स्थिति जन आक्रोश को बढ़ा देती है। (हटिंगटन, 1968; जॉनसन, 1966)। रजनी कोठारी मानते हैं कि भारत की 'वर्तमान संसदीय प्रजातंत्र' के संदर्भ में 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' अपरिहार्य है।

> शासक और शासित लोगों के बीच हताशा का सामान्य वातावरण, संचार की ज्ञात धाराओं की अप्रभावशीलता, व्यक्ति का अलगाव और आणवीकरण, कठोर अनुशासन और निरंतर संघर्ष की स्थिति की प्रवृत्ति (जो कुछ समय तक प्रच्छन्न और दबी हुई हो सकती है)—ये सभी बातें स्व-शासन के आदर्श को अधिकाधिक दूर की कौड़ी बना देती हैं और संसदीय सरकार को एक अस्थिर राजनीतिक संगठन के रूप में बदल देती हैं। (1960: 26-27)

डेविड बायले (1962) दावा करते हैं कि जन आंदोलनों की संसदीय प्रकार की सरकार में कुछ 'प्रकार्यात्मक उपयोगिता' भी है। वे कहते हैं कि स्वतंत्रता के पूर्व और बाद में, लोगों की एक वृहद् संख्या ने यह अनुभव किया है कि शिकायतों, निराशाओं और भूलों (वास्तविक या बनावटी) को सुधारने के संस्थागत साधन अपर्याप्त रहे हैं। सन् 1960 में कोठारी ने सभी प्रकार की 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' को न्यायोचित नहीं माना है। किसी भी कार्यवाही को तभी वांछनीय कहा जा सकता है जब वर्तमान राजनीतिक संगठन की अपेक्षा प्रत्यक्ष कार्यवाही में संलग्न समूह वांछित राजनीतिक परिवर्तन के लिये राजनीतिक स्वतंत्रता के अधिक अवसर देता है (1960: 28)। कोठारी और बायले अपने विमर्श को ऐसी प्रत्यक्ष कार्यवाही तक सीमित रखते हैं जो सरकार के विरोध में की गई है। इन विद्वानों ने सामाजिक-आर्थिक वर्चस्व और समाज की शक्ति-संरचना के विरोध में की गई प्रत्यक्ष कार्यवाही या आंदोलन पर विचार नहीं किया है। ए.आर. देसाई (1965) ने कोठारी और बायले के विचारों के विपक्ष में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि इन लोगों के प्रत्यक्ष कार्यवाही पर विचार 'औपचारिक स्तर तक सीमित है और समस्या के समझने में कोई मौलिक सूत्र प्रस्तुत नहीं करते हैं।' देसाई दावा करते हैं—

> एक राजनीतिक संस्थागत युक्ति के रूप में संसदीय प्रकार की सरकार लोगों के प्रजातांत्रिक मूर्त अधिकारों को जारी रखने या विस्तारित करने हेतु अपर्याप्त सिद्ध हुई है। सरकार का इस प्रकार का स्वरूप एक खोल के रूप में कार्य करता है जिसमें पूंजी की सत्ता अपने आपको बनाये रखती है, लोगों के अवसरों को बाधित या कम करती है ताकि वे समाज की प्रक्रिया में सचेतन रूप में भाग न ले सकें, या अधिकाधिक रूप में अपने आपको ऐसी तानाशाही में बदल देती है जहां पूंजी अपनी कुछ प्रजातंत्रीय दावों और नियमों को खुले, निष्ठुर तानाशाही तरीकों के द्वारा त्याग देती है। जन आंदोलन तब तक चलते रहते हैं जब तक उन देशों में लोग पूंजी के नियमों को समाप्त नहीं कर देते हैं, जहां यह अभी तक विद्यमान है। ये आंदोलन नौकरशाही निरंकुश राजनीतिक शासन के विरोध में भी जारी रहते हैं जहां पूंजी के नियम समाप्त हो गये हैं, किन्तु जहां कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों—स्टालिनवादी नौकरशाही, आतंकवादी राजनीतिक प्रणालियां उत्पन्न हो गई हैं। ये आंदोलन और विरोध तब तक जारी रहेंगे जब तक वास्तविक प्रजातांत्रिक अधिकारों को प्राप्त करने और प्रयोग करने हेतु पर्याप्त राजनीतिक संस्थागत रूपों को हासिल नहीं कर लिया जाता है। (1965: 323)

प्रो. देसाई (1986) अपनी बात को दोहराते हुए कहते हैं कि लोगों के नागरिक और प्रजातांत्रिक अधिकारों को संविधान में सुरक्षा प्रदान नहीं की गई है। परिणामत: इनकी सुरक्षा के लिये आंदोलनों में बढ़ोतरी हुई है।

1980 के दशक में, रजनी कोठारी (1984, 1986) ने कहा था कि भारत में 'प्रजातंत्र' भ्रष्टाचार, अपराधीकरण, दमन और बड़ी संख्या में लोगों को भयभीत करने का एक खेल का मैदान बन गया है। राज्य की 'सामाजिक बदलाव' की भूमिका का अवमूल्यन हो गया है। नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था, जिसे प्रथम युद्ध के बाद थोपा गया, में इसका महत्व और अधिक कम हुआ है। लोगों ने विभिन्न संघर्षों के द्वारा अपने अधिकारों को जताना शुरू कर दिया।

> वायु में असंतोष और नैराश्य छाया हुआ है, जो अभी भी काफी फैला हुआ, खंडित और असंगठित है। किन्तु अधिकारों के प्रति चेतना बढ़ती जा रही है जो राजनीतिक रूप में अनुभव और राजनीतिक रूप में ही अभिव्यक्त की जा रही है और अधिकांशत: राज्य को इसका लक्ष्य बनाया जा रहा है। जब कभी लामबन्दी के साधन उपलब्ध हो जाते हैं, इस चेतना को अभिव्यक्ति मिल जाती है। बहुधा यह अभिव्यक्ति भारी असुविधा के विरोध में ऐसे हितों के समूहन के विरोध में होती है जो इतनी शक्तिशाली और आत्मतुष्ट होती है कि वह अपनी सुविधाओं को नहीं छोड़ती (या सहभागी बन जाती है) है। निचले स्तर पर यह समाज के पैराडिम (वैचारिक ढांचे) के विरुद्ध चेतना होती है जो कि उन निर्बल और निस्सहाय लोगों के दुखों की संकल्पित उपेक्षा पर आधारित होती है जो पैराडिम के स्वयं के तर्क के द्वारा भुखमरी के कगार पर धकेल दिये जाते हैं। (कोठारी, 1984: 218)

कोठारी यह अनुभव करते हैं कि तृणमूल स्तर पर वृहत् लामबन्दी आवश्यक और अभीष्ठ दोनों है। वे जोरदार ढंग से कहते हैं कि—

> यह उदारवादी राज्यतंत्र की पारम्परिक अधिसंरचना में शून्य की स्थिति है जिसमें यह आशा की जाती है कि शक्तिशाली प्रवृत्तियों के होते हुए भी यह मानवीय बनी रहे। ये वास्तविक प्रति-प्रवृत्तियां न तो दल व्यवस्था में, न ही चुनावी राजनीति और राज्य शक्ति में तथा न ही मजदूर संगठनों के पारम्परिक आर्थिक क्षेत्र जिसमें तथाकथित सम्पन्न और विपन्न के बीच विशिष्ट रूप में विरोध प्रकट किया जाता है, में पाई जाती हैं। इनके स्थान पर प्रति-कार्यवाही का एक नया कार्यक्षेत्र, बराबर की प्रवृत्तियां, प्रति-सांस्कृतिक आंदोलन और अधिक सामान्य रूप में विचार और क्रिया के विद्यमान पैराडिम की एक प्रति-चुनौती उभर रही है। (1986: 214)

अमेरिकी विद्वानों (गुर्र, 1970) द्वारा विकसित 'सापेक्षिक वंचन' के सिद्धान्त ने भी प्रदर्शनों और जन आंदोलनों के कुछ अध्ययनों को निर्देशित किया है। इस सिद्धान्त की सीमाओं का कई भारतीय विद्वानों ने उल्लेख किया है। एम.एस.ए. राव ने कहा है कि सापेक्षिक वंचन आवश्यक तो है, किन्तु यह विरोधी आंदोलनों के लिये एक यथेष्ठ शर्त नहीं है। वे कहते हैं, 'सहभागियों से एक यथेष्ठ स्तर की समझ और चिन्तन की अपेक्षा की जाती है और वे सुविधा सम्पन्न और सुविधा वंचित लोगों की सामाजिक और सांस्कृतिक दशाओं के बीच के विरोध को देखने और अनुभव के योग्य होने चाहिये और साथ ही उन्हें इस बात का भी

अहसास होना चाहिए कि इस स्थिति के लिये कुछ किया जाना संभव है' (1979: 27)। प्रो. शाह कहते हैं कि सापेक्षित वंचन का सिद्धान्त सहभागियों की चेतना और वैचारिक पक्ष के महत्व की अवहेलना करता है। यह सिद्धान्त प्रदर्शनों और आंदोलनों को तो स्पष्ट करता है, किन्तु क्रांतिकारी आंदोलनों का विश्लेषण नहीं करता। यह जरूरी नहीं है कि विरोध-प्रदर्शन किसी आंदोलन का रूप धारण ही कर ले। टी.के. ऊम्मन (1977) भी कहते हैं कि वंचन सिद्धान्तकार आंदोलनों को निरन्तर प्रवाहित परिवर्तन की प्रक्रियाओं की अपेक्षा 'अस्थाई विपथगमन' के रूप में देखते हैं। यही नहीं ये लोग वंचन के स्रोतों पर कोई ध्यान नहीं देते हैं। गर्र की दृष्टि में, 'वंचन' मुख्यत: मनोवैज्ञानिक होता है, अत: वे सामाजिक-आर्थिक संरचना पर कोई ध्यान नहीं देते जो कि वंचन का स्रोत होता है।

1970 के दशक के जिन अध्ययनों ने वैचारिक ताने-बाने को प्रस्तुत किया, उनमें मुख्यत: सामाजिक आंदोलनों के प्रकारों को दर्शाया गया है। आंदोलनों के वर्गीकरण के आधार, उनके उद्देश्य या परिवर्तन की गुणात्मकता, जो वे लाना चाहते हैं, रहे हैं। शाह (1977) ने आंदोलनों को विद्रोह, बगावत, सुधार और क्रांति में वर्गीकृत किया है जिनका उद्देश्य राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना होता है। सुधार संबंधी आंदोलन प्रत्यक्ष तौर पर राजनीतिक व्यवस्था को चुनौती नहीं देते। ये व्यवस्था के हिस्सों के बीच के आपसी संबंधों में परिवर्तन लाने के प्रयास मात्र होते हैं ताकि उन्हें अधिक कुशल, उत्तरदायी और कार्य योग्य बनाया जा सके। एक विद्रोह राजनीतिक सत्ता को चुनौती होती है। एक बगावत विद्यमान सत्ता पर एक प्रहार होता है जिसका उद्देश्य सत्ता हथियाना नहीं होता। क्रांति में, समाज का एक भाग या कई भाग मिलकर न केवल स्थापित सरकार और शासन प्रणाली अपितु सामाजिक-आर्थिक संरचना, जो उसे बनाये रखती है, को उखाड़-फैंकने और उसके स्थान पर एक एक वैकल्पिक सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने हेतु एक संगठित संघर्ष करते हैं।

पार्थ मुखर्जी (1977) की दृष्टि में, सामाजिक आंदोलन संचयी, वैकल्पिक और रूपान्तरकारी होते हैं। संचयी परिवर्तन किसी संरचना और व्यवस्था के भीतर होने वाले परिवर्तन हैं। एम.एस.ए. राव (1978) ने भी न्यूनाधिक रूप में इसी प्रकार का वर्गीकरण किया है—सुधारवादी, रूपान्तरकारी और क्रांतिकारी। तथापि, टी.के. ऊम्मन मानते हैं कि आंदोलनों में न तो विद्यमान व्यवस्था को पूर्णत: उखाड़-फैंकने की शक्ति होती है और न ही वे पारम्परिक संरचना को पूर्णत: बेदखल कर सकते हैं। अत: मूलत: सामाजिक आंदोलन पुरातन और नवीन मूल्यों और संरचनाओं के सम्मिलन के लिये एक मंच प्रदान करते हैं (1977: 16)। इनका वर्गीकरण आंदोलन की रचनाकरण की प्रक्रिया, जीवन-शैली और सामाजिक आंदोलनों की अव्यवस्थाओं से संबंधित हैं। उनके अनुसार, आंदोलन करिश्माई, वैचारिक और संगठनात्मक प्रकार के होते हैं।

ये सभी वर्गीकरण, यद्यपि उपयोगी हैं, आंदोलनों की गत्यात्मकता को स्पष्ट नहीं कर पाते हैं जो कि समय के साथ उनमें परिवर्तन लाते हैं। ये वर्गीकरण उन आंदोलनों पर ध्यान नहीं देते जिनके उद्देश्यों में आंदोलन के विकास के दौरान परिवर्तन आते हैं। कुछ आंदोलन तो के व्यवस्था को बनाये रखने या उसके रद्दोबदल के संदर्भ में उद्देश्य स्पष्ट नहीं होते हैं

नहीं, आंदोलन के नेताओं के प्रकट उद्देश्यों और सैद्धान्तीकरण तथा संघर्ष और भाग लेने के उनके स्वयं के उद्देश्य के प्रति विभिन्न स्तर पर सहभागियों के बोध में हर समय समानता नहीं होती है। डेविड बायले (1962) ने 'अवपीड़क जन विरोध' को कानूनी और गैर कानूनी विरोधों में बांटा है। इनके प्रत्येक वर्ग को पुन: हिंसक और अहिंसक विरोध के दो उप-भागों में बांटा है। कुछ लोगों ने आंदोलनों को त्रणमूल स्तरीय (लघु) और वृहद् आंदोलनों में विभाजित किया है। सामाजिक आंदोलनों को मुद्दों के आधार पर भी वर्गीकृत किया गया है जिनके सहारे सहभागियों को आंदोलन के लिये उकसाया जाता है। कुछ आंदोलन 'जंगली', 'नागरिक अधिकार', 'अस्पृश्यता-विरोधी', 'भाषाई', 'राष्ट्रवादी' और इसी प्रकार के अन्य आंदोलनों के रूप में जाने जाते हैं। कुछ अन्य लोगों ने आंदोलनों का वर्गीकरण सहभागियों के आधार पर किया है, जैसे कृषक, जनजातीय, विद्यार्थी, महिला, दलित आंदोलन आदि। कई मामलों में आंदोलनों के मुद्दों और सहभागियों में एक प्रकार की साम्यता होती है। इस पुस्तक के पूर्व संस्करण में, सुविधा की दृष्टि से, हमने सामाजिक आंदोलनों को सहभागियों तथा सन्निहित मुद्दों की सामाजिक-आर्थिक विशेषताओं के आधार पर निम्नलिखित आठ प्रकारों में वर्गीकृत किया था—

1. कृषक आंदोलन;
2. जनजातीय आंदोलन;
3. दलित आंदोलन;
4. पिछड़ी जाति आंदोलन;
5. महिलाओं के आंदोलन;
6. औद्योगिक कामगार वर्ग आंदोलन;
7. विद्यार्थी आंदोलन; और
8. मध्यम वर्ग आंदोलन।

अब इस सूची में हम एक और आंदोलन को जोड़ते हैं, वह है—'मानवीय अधिकार और पर्यावरणवादी आंदोलन'। ये आंदोलन कुछ मुद्दों के आसपास आधारित हैं और इनका सैद्धान्तीकरण सभी सामाजिक और आर्थिक समूहों को समेटने का दावा करता है। यह सत्य है कि इन आंदोलनों का नेतृत्व आजकल के समय में मध्यम वर्ग से आ रहा है, तथापि ये नेतागण मुख्यत: वंचित वर्गों और समुदायों को प्रभावित करने वाले मुद्दों को उठाते हैं। आंदोलनों के उपरोक्त वर्ग सर्वांगीण नहीं हैं और इनमें कुछ अन्य प्रकार के आंदोलन छूट गये हैं। हम यह जानते हैं कि यहां जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है, वह पूर्णत: संतोषजनक नहीं है क्योंकि कई आंदोलनों में सहभागियों की संख्या भिन्न होती है। वे सभी विभिन्न आर्थिक स्तरों, वर्गों या कई सामाजिक समूहों से होते हैं। यदि जनजातियों द्वारा किसी विशिष्ट आंदोलन में पारिस्थितिकी का मुद्दा उठाया जाता है और आंदोलन के सहभागियों की संख्या अत्यधिक होती है, हमने ऐसे आंदोलन को जनजातीय आंदोलन की श्रेणी/वर्ग में वर्गीकृत किया है। किन्तु यदि कोई मुद्दा प्रबुद्ध वर्ग के द्वारा उठाया गया है और इस आंदोलन के बहुसंख्यक

लोग मध्यम वर्गीय हैं, चाहे वह मुद्दा सभी स्तरों के लोगों को किसी न किसी रूप में प्रभावित करता है, जैसे भाषाई प्रान्तों का आंदोलन, तब इस आंदोलन को मध्यम वर्ग के आंदोलन के रूप में वर्गीकृत किया गया है। इसी प्रकार, सामाजिक और आर्थिक स्थिति—किसी विशिष्ट सामाजिक समूह के साथ जुड़ने की व्यक्तिपरक पहचान, ये दोनों हमेशा साथ-साथ नहीं चलते। उदाहरणार्थ, पिछड़ी जातियों के लोग जो कृषक भी हैं और कभी-कभी इन लोगों को ऐसे मुद्दों पर आंदोलित किया जाता है जो उनकी प्रस्थिति और पहचान से संबंधित होते हैं।

यही बात जनजातीय लोगों पर भी लागू होती है। ऐसी स्थिति में, ऐसे मुद्दे जिनके आधार पर सहभागियों को आंदोलित किया जाता है, वे हमें आंदोलन को किसी एक या दूसरी श्रेणी/वर्ग में वर्गीकृत करने के लिये प्रेरित करते हैं। यह बात हमें स्थिति की जटिलता और वर्गीकरण के साथ-साथ सैद्धांतीकरण की सीमाओं की याद दिलाती है।

टिप्पणियाँ

1. इसमें 1975 और 1978 के बीच की अवधि को सम्मिलित नहीं किया गया है। यह सूचना इस ग्रंथ पर आधारित है—*सोश्यल साइन्सेस : ए बिब्लियोग्राफी ऑफ डॉक्टरल डिसर्टेशन अक्सेप्टेड बाई इन्डियन यूनिवर्सिटीज 1857–1957* (यूनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन, 1980अ); *बिब्लियोग्राफी ऑफ डॉक्टरल डिसर्टेशन्स*, 1970–75 (यू.जी.सी. 1980ब); और *बिब्लियोग्राफी ऑफ डॉक्टरल डिसर्टेशन, 1979–80* (एसोसिएशन ऑफ इन्डियन यूनिवर्सिटीज, 1980)।
2. अमेरिका में कुछ विद्वानों ने सामाजिक आंदोलनों का सैद्धान्तीकरण 'तार्किक चयन सिद्धान्त' के तहत 'संसाधन लामबन्दी' मॉडल के रूप में किया है। यह कुछ उद्यमियों की एक तार्किक क्रिया है जो अपने आप पहल करते हैं, क्रिया-विधियों और संरचनाओं का विकास करते हैं, लामबन्दी की लागत और लाभों का आकलन करते हैं। यह संसाधन उपलब्धता, अधिमान्य संरचनाओं के पूर्व-विद्यमान संगठन और लोगों की मांगों को पूरा करने के उद्यमीय प्रयासों के बीच एक अन्तर्क्रिया मॉडल है (मैक्कार्थी एवं जैड, 1987; रूल 1989)।
3. तथापि यह कहना एक अतिसरलीकरण ही होगा कि प्रतापचन्द्र भारतीय समाज को स्थिर मानते हैं। उन्होंने 'विरोध प्रदर्शन' और 'असहमति प्रकट करना' की अवधारणाओं को भारतीय समाज पर लागू करने के बारे में प्रश्न उठाये हैं। उन्होंने कहा है कि "हमें पुरातन भारत में असहमति, विरोध या सुधार संबंधी किसी आंदोलन के कोई साक्ष्य इसलिये नहीं मिलते क्योंकि हम उस संस्कृति में किसी भी बौद्धिक रूप में स्पष्ट, अखंडित संरचनाएं, सत्य, वैचारिक समरूपताओं के एकाधिकारों का दावा या इनमें से किसी के लिये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष मांग का अभाव पाते हैं।"

ग्रंथ-सूची

Aiyar, S.P. (ed.). 1966. *The Politics of Mass Violence in India*. Bombay: Manaktalas.

Sathyamurthy, T.V. 1987. 'Contemporary European Scholarship on Political and Social Change in South Asia: An Essay in the Sociology of Knowledge'. *Economic and Political Weekly*, 22(11), March 14.

Scott, James. 1985. *Weapons of the Weak: Everyday Forms of Peasant Resistance*. New Haven: Yale University Press.

Shah, Ghanshyam. 1977. *Protest Movements in Two Indian States*. Delhi: Ajanta Publishers.

—. 1979. 'Direct Action in India: A Study of Gujarat and Bihar Agitations'. *Contributions to Asian Studies*, 14.

—. 2001. 'Political Science in India: A Discipline and Intellectual Pursuit'. *Indian Journal of Political Science*, 62(1), March.

Sheth, D.L. 1984. 'Grass-Roots Political Initiative'. *Economic and Political Weekly*, 19(6), February 11.

Sheth, N.R. 1971. 'Management of Industrial Conflict'. *Indian Management*, 10(9).

Shils, Edward. 1982. 'The Political Class in the Age of Mass Society: Collectivistic Liberalism and Social Democracy'. In *Does Who Governs Matter? Elite Circulation of Contemporary Societies*. Edited by M. Czudnowski. De Kalb: Northern Illinois University Press.

Singh, Rajendra. 2001. *Social Movements, Old and New: A Post-modernist Critique*. New Delhi: Sage Publications.

Singh, Sangeeta, Dutta, Pradeep Kumar, Pati Biswamoy Barik, Radhakanta, Chopra, Radhika, Dutta, Partha and Prasad, Sanjay. 1984. 'Subaltern Studies II: A Review Article'. *Social Scientist*, 12(10), October.

Smelser, Neil. 1963. *The Theory of Collective Behaviour*. New York: Free Press.

Srinivasan , R. 1966. Democracy and the Revolt of the Masses'. In *The Politics of Mass Violence in India*. Edited by S.P. Aiyar. Bombay: Manaktalas.

Stokes, Eric. 1959. *The English Utilitarians and India*. Oxford: Oxford University Press.

Thapar, Romila. 1977. 'Ethics, Religion and Social Protest in the First Millennium B.C. in Northern India'. In *Dissent, Protest and Reform in Indian Civilization*. Edited by S.C. Malik. Simla: Indian Institute of Advanced Study.

Tilly, Charles. 1978. *From Mobilization to Revolution*. Reading: Addison-Wesley.

University Grants Commission. 1980a. *Social Sciences: A Bibliography of Doctoral Dissertations Accepted by Indian University, 1857–1970*. New Delhi: University Grants Commission.

—. 1980b. *Bibliography of Doctoral Dissertations, 1970–75*. New Delhi: University Grants Commission.

Weber, Max. 1947. *The Theory of Social and Economic Organisation*. Glencoe, Ill.: Free Press.

Weldon, T.D. 1955. *The Vocabulary of Politics*. London: Penguin Books.

Wilkinson, Paul. 1971. *Social Movements*. London: Pall Mall.

Wilson, John. 1973. *Introduction to Social Movements*. New York: Basic Books.

Dhanagare, D. 1983. *Peasant Movements in India*, 1920-50. Delhi: Oxford University Press.

Dhanagare, D. and John, J. 1988. 'Cyclical Movement towards the "Eternal"—"Nine Theses on Social Movements": A Critique'. *Economic and Political Weekly*, 33(21), May 21.

Easton, David. 1953. *The Political System: An Inquiry into the State of Political Science*. New York: Alfred Knopf.

Frank, Andre Gunder and Funtes, Marta. 1987. 'Nine Theses on Social Movements'. *Economic and Political Weekly*, 32(35), August 29.

Funchs, Martin and Linkenbach, Antje. 2002. 'Social Movement'. In *Sociology and Social Anthropology*. Edited by Veena Das. Delhi: Oxford University Press.

Gore, M.S. 1997. 'Social Movement and the Paradigm of Functional Analysis'. In *Social Transformation in India*. Vol. I. Edited by Ghanshyam Shah. Jaipur: Rawat Publications.

Gough, Kathleen. 1974. 'Indian Peasant Uprising'. *Economic and Political Weekly*, 9(32-34), Special Number, August.

Guha, Ranajit. 1983a. *Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India*. Delhi: Oxford University Press.

—. 1983. 'The Prose of Counter-Insurgency'. In *Subaltern Studies II*. Edited by Ranajit Guha. Delhi: Oxford University Press.

Guha, Ramchandra. 1989. *The Unquiet Wood, Ecological Change and Peasant Resistance in the Himalaya*. Delhi: Oxford University Press.

Gupta, Dipankar. 1985. 'On Altering the Ego in Peasant History: Paradoxes of the Ethnic Opinion'. *Peasant Studies*, 13(1), Fall.

Gurr, T.R. 1970. *Why Men Rebel*. Princeton, NJ: Princeton University Press.

Gusfield, Joseph. 1970. *Peasant, Reform and Revolt: A Reader in Social Movements*. New York: John Wiley and Sons.

Hardiman, David. 1987. *The Coming of the Devi: Adivasi Assertion in Western India*. Delhi: Oxford University Press.

Heberle, Rudolf. 1951. *Social Movements: An Introduction to Political Sociology*. New York: Appleton Century Crafts.

—. 1968. 'Types and Functions of Social Movement'. In *International Encyclopaedia of the Social Sciences*. New York: Collier Macmillan.

Huntington, Samuel. 1968. *Political Order in Changing Societies*. New Haven: Yale University Press.

ICSSR. 1990. *Research Projects*, 1969–88. Delhi: ICSSR.

—. n.d. *Research Projects*, 1988–89 to 1994–95. Delhi: ICSSR.

Johnson, Chalmers. 1966. *Revolutionary Change*. Boston: Little Brown.

Kornhauser, William. 1959. *The Politics of Mass Society*. Glencoe, Ill.: Free Press.

—. 1968. 'Mass Society'. In *International Encyclopaedia of Social Sciences*, Vol. 9. Edited by David Shills. New York: The Macmillan Company.

Alam, Javeed. 1983. 'Peasantry, Politics and Historiography: Critique of New Trend in Relation to Marxism'. *Social Scientist*, 11(2), February.

Almond, G. and Coleman, J. 1960. *The Politics of the Developing Areas*. Princeton, NJ: Princeton University Press.

Association of Indian Universities. 1980. *Bibliography of Doctoral Dissertation, 1979–80*. New Delhi: Association of Indian Universities.

Badrinath, C. 1977. 'Dissent, Protest and Social Reform: The Historical Context'. In *Dessent, Protest and Reform in Indian Civilization*. Edited by S.C. Malik. Simla: Indian Institute of Advanced Study.

Bayley, David H. 1962. 'The Pedagogy of Democracy: Coercive Public Protest in India'. *The American Political Science Review*, 56(3). September.

—. 1963. 'Violent Public Protest in India: 1990–1960'. *Indian Journal of Political Science*, 24(4). October-December.

—. 1969. 'Public Protest and the Political Process in India'. *Pacific Affairs*, 42(1), Spring.

Bhattacharya, S. 1982. 'Paradigms Lost: Notes on Social History in India'. *Economic and Political Weekly*, 17(14–16), April.

Chandavarkar, Rajnarayan. 1998. *Imperial Power and Popular Politics: Class, Resistance and the State in India*. 1850-1950. Cambridge: Cambridge University Press.

Chandra, Pratap. 1977. 'Study of Ideological Discord in Ancient India: Search for a Suitable Model'. In *Dissent, Protest and Reform in Indian Civilization*. Edited by S.C. Malik. Simla: Indian Institute of Advanced Study.

Chatterjee, Partha. 1983. 'Peasants, Politics and Historiography: A Response'. *Social Scientist*, 11(5), May.

—. 1985. 'Models of Power: Some Clarifications'. *Social Scientist*. 13(2) February.

Chavan, Y.B. 1962. *Direct Action and Parliamentary Democracy*. Ahmedabad: The Harold Laski Institute of Political Science.

Chopra, Suneet. 1982. 'Missing Correct Perspective'. *Social Scientist*. 10(8). August.

Cohen, Jean L. 1983. 'Rethinking Social Movements'. *Berkeley Journal of Sociology*, 28.

Coser, Lewis A. 1956. *The Functions of Social Conflict*. Glencoe, Ill.: Free Press.

Dahrendorf, Ralf. 1959. *Class and Class Conflict in Industrial Society*. Standford. Stanford University Press.

Damle, Y.B. 1977. 'Protest, Dissent and Social Reform: A Conceptual Note'. In *Dissent, Protest and Reform in Indian Civilization*. Edited by S.C. Malik. Simla: Indian Institute of Advanced Study.

Desai, A.R. 1965. 'Public Protest and Parliamentary Democracy'. In *Studies in Indian Democracy*. Edited by S.P. Ajyar and R. Srinivasan. Bombay. Allied Publishers.

—. (ed.). 1986. *Violation of Democratic Rights in India*. Bombay. Popular Prakashan.